||Shri Hari||

Welcome to eBooks in Hindi

हम ईश्वरको क्यों मानें ?

by Gita Press, Gorakhpur

Table of Contents

१. हम ईश्वरको क्यों मानें ?

२. परमात्मा सगुण हैं या निर्गुण ?

३. भगवान्‌का अवतार

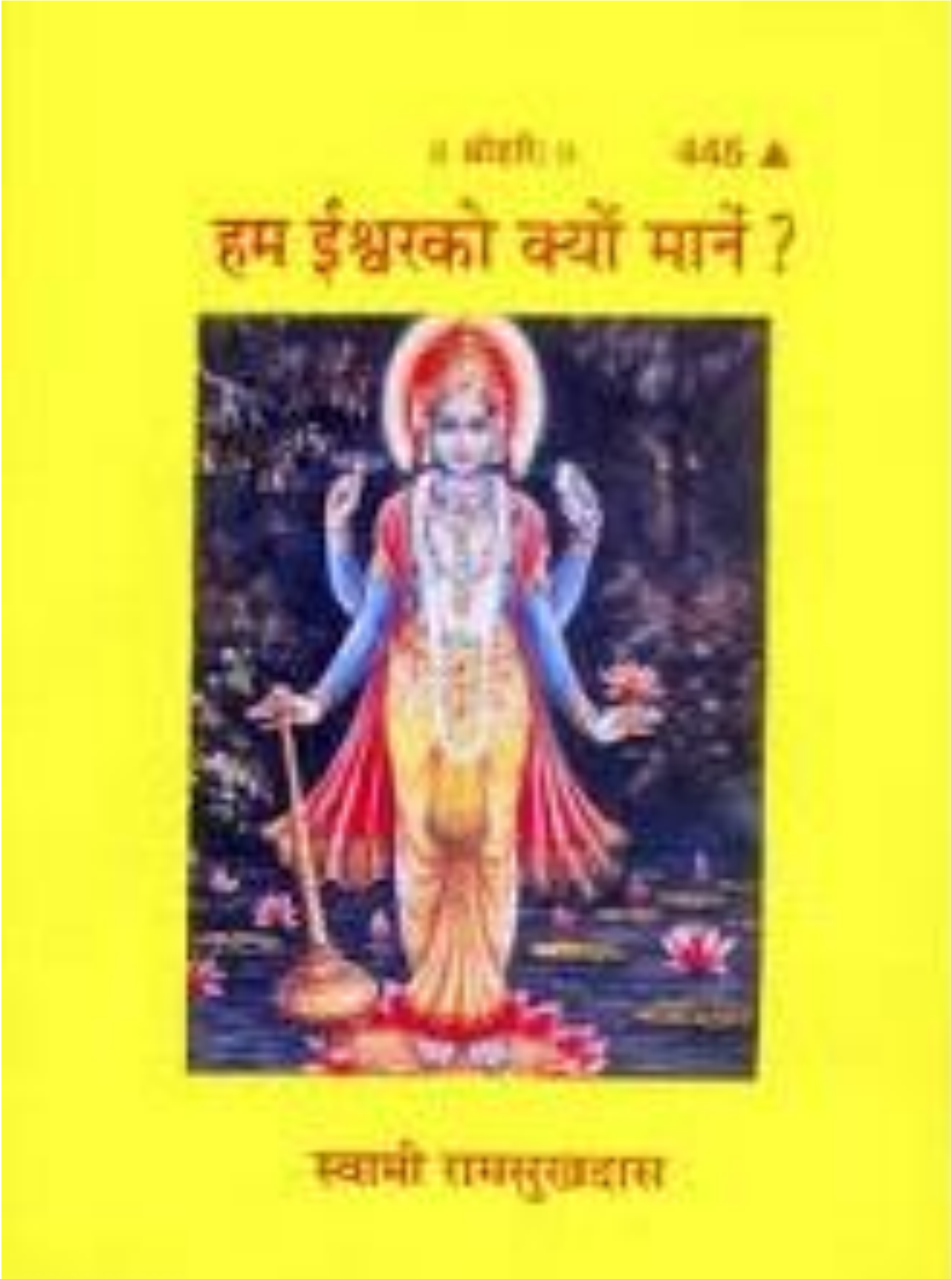

www.swamiramsukhdasji.net

THIS EBOOK IS NOT FOR RESALE

445

॥ श्रीहरिः ॥

हम ईश्वरको क्यों मानें ?

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

सं० २०६४ अठारहवाँ पुनर्मुद्रण १०,०००
कुल मुद्रण ३,१२,५००

❖ मूल्य—२ रु०
(दो रुपये)

ISBN 81-293-0915-7

प्रकाशक एवं मुद्रक—
गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
(गोबिन्दभवन-कार्यालय, कोलकाता का संस्थान)
फोन : (०५५१) २३३४७२१; फैक्स : (०५५१) २३३६९९७
e-mail : **booksales@gitapress.org** website : **www.gitapress.org**

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१. हम ईश्वरको क्यों मानें?	......	१
२. परमात्मा सगुण हैं या निर्गुण?	.....	२३
३. भगवान्‌का अवतार	......	४२

—:०:—

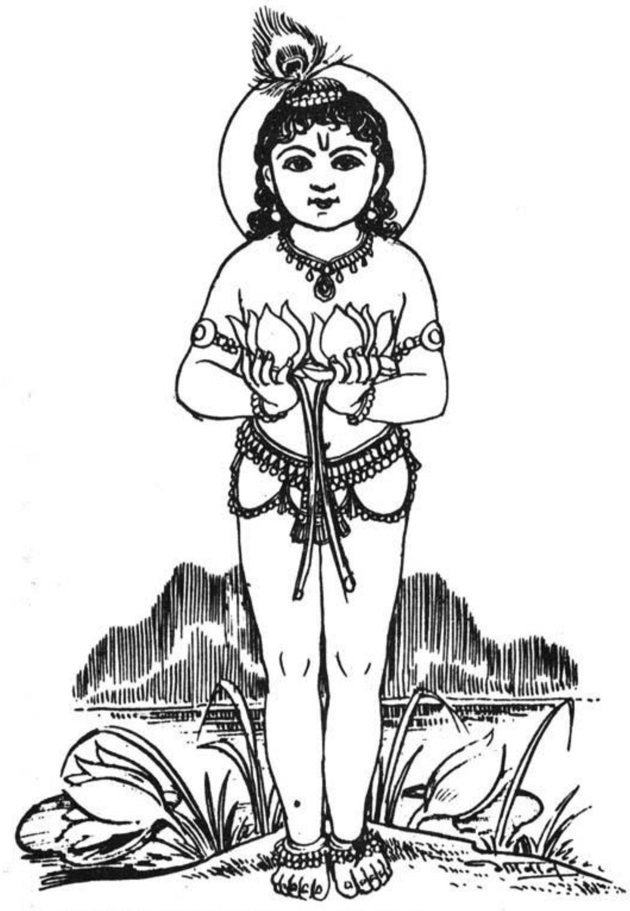

१. हम ईश्वरको क्यों मानें?

॥ श्रीहरिः ॥

हम ईश्वरको क्यों मानें ?

अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा गीतामें ईश्वरवाद विशेषरूपसे आया है। न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा—ये छहों दर्शन केवल जीवके कल्याणके लिये ही हैं; परंतु इनमें ईश्वरका वर्णन मुख्यतासे नहीं हुआ है। इनमेंसे 'न्यायदर्शन'में 'जो कुछ होता है, वह सब ईश्वरकी इच्छासे ही होता है'—इस तरह ईश्वरका आदर तो किया गया है, पर मुक्तिमें वह ईश्वरकी आवश्यकता नहीं मानता। वह इक्कीस प्रकारके दुःखोंके ध्वंसको ही मुक्ति बताता है। 'वैशेषिकदर्शन'में भी जीवके कल्याणके लिये ईश्वरकी आवश्यकता न बताकर आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन

तीनों तापोंका नाश बताया गया है। 'योगदर्शन'में मुख्यरूपसे चित्तवृत्तियोंके निरोधकी बात आयी है। चित्तवृत्तियोंके निरोधसे स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। हाँ, चित्तवृत्ति-निरोधमें ईश्वरप्रणिधान-(शरणागति-) को भी एक उपाय बताया गया है, पर इस उपायकी प्रधानता नहीं है। 'सांख्यदर्शन' और 'पूर्वमीमांसादर्शन' तो जीवके कल्याणके लिये ईश्वरकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझते। 'उत्तरमीमांसा'-(वेदान्तदर्शन-) में ईश्वरकी बात विशेषरूपसे नहीं आयी है, प्रत्युत जीव और ब्रह्मकी एकताकी बात ही विशेषरूपसे आयी है। वैष्णवाचार्योंने भी ईश्वरकी विशेषता तो बतायी है, पर जैसी गीताने बतायी है, वैसी नहीं बतायी।

गीतामें ईश्वर-भक्तिकी बात मुख्यरूपसे आयी है। अर्जुन जबतक भगवान्‌के शरण नहीं हुए, तबतक भगवान्‌ने उपदेश नहीं दिया। जब अर्जुनने

भगवान्‌के शरण होकर अपने कल्याणकी बात पूछी, तब भगवान्‌ने गीताका उपदेश आरम्भ किया। उपदेशके अन्तमें भी भगवान्‌ने **'मामेकं शरणं व्रज'** (१८। ६६) कहकर अपनी शरणागतिको अत्यन्त गोपनीय और श्रेष्ठ बताया और अर्जुनने भी **'करिष्ये वचनं तव'** (१८। ७३) कहकर पूर्ण शरणागतिको स्वीकार किया।

गीतोक्त कर्मयोगमें भी ईश्वरकी आज्ञा-रूपसे ईश्वरकी मुख्यता आयी है; जैसे **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'** (२। ४७); **'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२। ४८); **'नियतं कुरु कर्म त्वम्'** (३। ८); **'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्'** (४। १५) आदि-आदि। ऐसे ही गीतोक्त ज्ञानयोगमें भी ईश्वरकी अव्यभिचारिणी भक्तिको ज्ञान-प्राप्तिका साधन बताया गया है (१३। १०; १४। २६)।

गीताके मूल पाठका अध्ययन करनेसे ही पता

चलता है कि जीवके कल्याणके लिये ईश्वरकी अत्यधिक आवश्यकता है !

ज्ञातव्य

प्रश्न—ईश्वरको हम क्यों मानें ?

उत्तर—ईश्वर है, इसलिये मानें।

प्रश्न—ईश्वर है या नहीं—इसका क्या पता ?

उत्तर—संसारमें जो भी वस्तु दीखती है, उसका कोई-न-कोई निर्माणकर्ता होता है; क्योंकि निर्माणकर्ताके बिना कोई भी वस्तु निर्मित नहीं होती। ऐसे ही समुद्र, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, वायु, तारे आदि हमें दीखते हैं तो इनका भी कोई रचयिता जरूर होना चाहिये। इनका रचयिता हमलोगोंकी तरह कोई सामान्य मनुष्य नहीं हो सकता, जो इनको बना सके। इनका निर्माता, रचयिता सर्वसमर्थ ईश्वर ही हो सकता है। दूसरी बात, समुद्र अपनी मर्यादामें रहता है, चन्द्र-सूर्य नियमित समयपर उदित और

अस्त होते हैं आदि-आदि, तो इनका नियमन, संचालन करनेवाला कोई होना चाहिये। इनका नियामक सर्वसमर्थ ईश्वर ही हो सकता है।

प्रश्न—समुद्र, पृथ्वी, चन्द्र आदिकी रचना और नियमन तो प्रकृति करती है। सब कुछ प्रकृतिसे ही होता है। अतः ईश्वरको ही रचयिता और नियामक क्यों मानें ?

उत्तर—हम आपसे पूछते हैं कि प्रकृति जड है या चेतन; अर्थात् उसमें ज्ञान है या नहीं ? अगर आप प्रकृतिको ज्ञानवाली मानते हैं तो हम उसीको ईश्वर कहते हैं। हमारे शास्त्रोंमें ईश्वररूपसे शक्तिका भी वर्णन है। अतः आपकी और हमारी मान्यतामें शब्दमात्रका ही भेद हुआ, तत्त्वमें कोई भेद नहीं हुआ। अगर आप मानते हैं कि प्रकृति जड है तो जड प्रकृतिके द्वारा ज्ञानपूर्वक क्रिया नहीं हो सकती। प्राणियोंकी रचना करना, उनके शुभाशुभ कर्मोंका

फल देना आदि क्रियाएँ जड प्रकृतिके द्वारा नहीं हो सकतीं; क्योंकि ज्ञानपूर्वक क्रियाके बिना संसारके जीवोंकी व्यवस्था नहीं हो सकती। जड प्रकृतिमें परिवर्तन जरूर होता है, पर उसमें ज्ञानपूर्वक क्रिया करनेकी शक्ति नहीं है। इसलिये 'ईश्वर है'—ऐसा हमें मानना ही पड़ेगा।

एक पक्ष कहता है कि ईश्वर नहीं है और दूसरा पक्ष कहता है कि ईश्वर है। अगर 'ईश्वर नहीं है'—यह बात ही सच्ची निकली तो ईश्वरको न माननेवाले और ईश्वरको माननेवाले—दोनों बराबर ही रहेंगे अर्थात् ईश्वरको माननेवालेकी कोई हानि नहीं होगी। परन्तु 'ईश्वर है'—यह बात ही सच्ची निकली तो ईश्वरको माननेवालेको तो ईश्वरकी प्राप्ति हो जायगी, पर ईश्वरको न माननेवाला सर्वथा रीता रह जायगा। अतः 'ईश्वर है'—यह मानना ही सबके लिये ठीक है। परन्तु केवल ईश्वरको माननेमें

ही सन्तोष नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उसको तो प्राप्त ही कर लेना चाहिये; क्योंकि ईश्वरको प्राप्त करनेकी सामर्थ्य मनुष्यमात्रमें है।

किसी वस्तुकी प्राप्ति होनेपर ही उसका निषेध किया जाता है—'**प्राप्तौ सत्यां निषेधः।**' यह कोई नहीं कहता कि 'घोड़ीका अण्डा नहीं होता'; क्योंकि जो होता ही नहीं, उसका निषेध करना बनता ही नहीं। ऐसे ही अगर ईश्वर है ही नहीं तो फिर 'ईश्वर नहीं है'—ऐसा कहना बनता ही नहीं। ऐसा कहना तभी बनता है, जब ईश्वर हो। अतः 'ईश्वर नहीं है'—ऐसा कहनेसे भी ईश्वरका होना सिद्ध होता है।

जो मनुष्य अँग्रेजी भाषाको मानता है, वह उसको सीखनेका अभ्यास करेगा, पढ़ाई करेगा तो उसको अँग्रेजी भाषा आ जायगी। परन्तु जो मनुष्य अँग्रेजी भाषाको मानता ही नहीं, वह उसको सीखनेका अभ्यास भी क्यों करेगा ? जैसे, किसीका

अँग्रेजी भाषामें तार आया तो अँग्रेजी भाषाके जानकार व्यक्तिने उस तारको पढ़ा कि अमुक व्यक्ति ज्यादा बीमार है। वहाँ जाकर देखा तो बात सच्ची निकली, आदमी ज्यादा बीमार था। अतः मानना पड़ेगा कि अँग्रेजी भाषा है, तभी तो तारमें लिखी बात सच्ची निकली। ऐसे ही जो ईश्वरकी प्राप्तिमें सच्चे हृदयसे लगे हुए हैं, उनमें सामान्य (जो ईश्वरकी प्राप्तिमें नहीं लगे, ऐसे) मनुष्योंसे विशेषता दीखती है। उनके सङ्गसे, भाषणसे शान्ति मिलती है। केवल मनुष्योंको ही नहीं, प्रत्युत पशु-पक्षी आदिको भी उनसे शान्ति मिलती है। जिनको ईश्वरकी प्राप्ति हो गयी है, उनमें बहुत विलक्षणता आ जाती है, जो कि सामान्य मनुष्योंमें नहीं होती। अगर ईश्वर नहीं है तो उनमें विलक्षणता कहाँसे आयी? अतः मानना ही पड़ेगा कि ईश्वर है।

मनुष्यमात्र अपनेमें एक कमीका, अपूर्णताका

THIS EBOOK IS NOT FOR RESALE

www.swamiramsukhdasji.net

अनुभव करता है। अगर इस अपूर्णताकी पूर्तिकी कोई चीज नहीं होती तो मनुष्यको अपूर्णताका अनुभव होता ही नहीं। जैसे, मनुष्यको भूख लगती है तो सिद्ध होता है कि कोई खाद्य वस्तु है। अगर खाद्य वस्तु नहीं होती तो मनुष्यको भूख लगती ही नहीं। प्यास लगती है तो सिद्ध होता है कि कोई पेय वस्तु है। अगर पेय वस्तु नहीं होती तो मनुष्यको प्यास लगती ही नहीं। ऐसे ही मनुष्यको अपूर्णताका अनुभव होता है तो इससे सिद्ध होता है कि कोई पूर्ण तत्त्व है। अगर पूर्ण तत्त्व नहीं होता तो मनुष्यको अपूर्णताका अनुभव होता ही नहीं। उस पूर्ण तत्त्वको ही ईश्वर कहते हैं।

जो वस्तु होती है, उसीको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। जो वस्तु नहीं होती, उसको प्राप्त करनेकी इच्छा होती ही नहीं। जैसे, किसीके मनमें यह इच्छा नहीं होती कि मैं आकाशके फल खाऊँ, आकाशके

फूल सूँघूँ; क्योंकि आकाशमें फल-फूल लगते ही नहीं। मनुष्यमात्रमें यह इच्छा रहती है कि मैं सदा जीता रहूँ (कभी मरूँ नहीं); सब कुछ जान लूँ (कभी अज्ञानी न रहूँ) और सदा सुखी रहूँ (कभी दुःखी न होऊँ)। मैं सदा जीता रहूँ—यह 'सत्' की इच्छा है; मैं सब कुछ जान लूँ—यह 'चित्' की इच्छा है; और मैं सदा सुखी रहूँ—यह 'आनन्द' की इच्छा है। इससे सिद्ध हुआ कि ऐसा कोई सच्चिदानन्द-स्वरूप तत्त्व है, जिसको प्राप्त करनेकी इच्छा मनुष्यमात्रमें है। उसी तत्त्वको ईश्वर कहते हैं।

कोई भी मनुष्य अपनेसे किसीको बड़ा मानता है तो उसने वास्तवमें ईश्वरवादको स्वीकार कर लिया; क्योंकि बड़प्पनकी परम्परा जहाँ समाप्त होती है, वही ईश्वर है—'**पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**।' (पातंजलयोगदर्शन १। २६)। कोई व्यक्ति होता है तो उसका पिता

होता है और उसके पिताका भी कोई पिता होता है। यह परम्परा जहाँ समाप्त होती है, उसका नाम ईश्वर है—**'पितासि लोकस्य चराचरस्य'** (११।४३)। कोई बलवान् होता है तो उससे भी अधिक कोई बलवान् होता है। यह बलवत्ताकी अवधि जहाँ समाप्त होती है, उसका नाम ईश्वर है; क्योंकि उसके समान बलवान् कोई नहीं। कोई विद्वान् होता है तो उससे भी अधिक कोई विद्वान् होता है। यह विद्वत्ताकी अवधि जहाँ समाप्त होती है, उसका नाम ईश्वर है; क्योंकि उसके समान विद्वान् कोई नहीं—**'गुरुर्गरीयान्'** (११।४३)। तात्पर्य है कि बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता, ऐश्वर्य, शोभा आदि गुणोंकी अवधि जहाँ समाप्त होती है, वही ईश्वर है; क्योंकि उसके समान कोई नहीं है—**'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः'** (११।४३)।

वास्तवमें ईश्वर माननेका ही विषय है,

विचारका विषय नहीं। विचारका विषय वही होता है, जिसमें जिज्ञासा होती है, और जिज्ञासा उसीमें होती है, जिसके विषयमें हम कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते। परन्तु जिसके विषयमें हम कुछ भी नहीं जानते, उसके विषयमें जिज्ञासा नहीं होती, उसपर विचार नहीं होता। उसको तो हम मानें या न मानें—इसमें हम स्वतन्त्र हैं। जैसे, जगत् हमारे देखनेमें आता है, पर जगत् तत्त्वसे क्या है—इसको हम नहीं जानते; अतः जगत् विचारका विषय है। ऐसे ही जीवात्मा स्थावर-जङ्गमरूपसे शरीरधारी दीखता है, पर जीवात्मा तत्त्वसे क्या है—इसको हम नहीं जानते; अतः जीवात्मा विचारका विषय है। परन्तु ईश्वरके विषयमें हम कुछ भी नहीं जानते; अतः ईश्वर विचारका (तर्कका) विषय नहीं है, प्रत्युत माननेका (श्रद्धाका) विषय है। शास्त्रोंसे और ईश्वरको प्राप्त हुए, ईश्वरका साक्षात्कार किये हुए

सन्त-महापुरुषोंसे सुनकर ही ईश्वरको माना जाता है। शास्त्र और सन्त—ये भी माननेके विषय हैं। जैसे वेद, पुराण आदिको हिन्दू मानते हैं, पर मुसलमान नहीं मानते। ऐसे ही सन्त-महापुरुषोंको कुछ लोग मानते हैं, पर कुछ लोग नहीं मानते, प्रत्युत उनको साधारण मनुष्य ही समझते हैं।

प्रश्न—क्या ईश्वरको माने बिना भी मनुष्य अपना उद्धार कर सकता है, संसारके बन्धनसे मुक्त हो सकता है ?

उत्तर—हाँ, हो सकता है। ऐसे भी सम्प्रदाय हैं, जो ईश्वरको नहीं मानते। उन सम्प्रदायोंमें बताये गये साधनमें तत्परतासे लगे हुए मनुष्य संसारसे मुक्त हो सकते हैं, सांसारिक दुःखोंसे छूट सकते हैं, पर उनको प्रतिक्षण वर्धमान परमानन्द-(भगवत्प्रेम-) की प्राप्ति नहीं हो सकती। हाँ, अगर उनमें ईश्वरके साथ विरोध, द्वेष और अपने मतका

www.swamiramsukhdasji.net

THIS EBOOK IS NOT FOR RESALE

आग्रह न हो तो उनको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति भी हो सकती है, चाहे वे ईश्वरको मानें या न मानें। तात्पर्य है कि जिसका अपने सिद्धान्तमें प्रेम है, पर दूसरेके सिद्धान्तसे द्वेष न करके तटस्थ रहता है, उसको मुक्त होनेके बाद भगवान्‌की, उनके प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान्‌में इस बातकी सम्भावना ही नहीं है कि मनुष्य उनको माने, तभी वे मिलें, अन्यथा नहीं मिलें।

वास्तवमें उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंका आकर्षण ही मुक्तिमें मुख्य बाधक है। अगर मनुष्य उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंसे सर्वथा असङ्ग, राग-रहित हो जाय, तो वह मुक्त हो जायगा अर्थात् उसकी परतन्त्रता मिट जायगी।

प्रश्न—गीतामें ईश्वरका कितने रूपोंमें वर्णन है ?

उत्तर—गीतामें ईश्वरका तीन रूपोंमें वर्णन

हुआ है—सगुण-साकार, सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकार। तात्पर्य है कि अगर ईश्वरको 'सगुण-निर्गुण' मानें तो 'सगुण' के दो भेद होंगे—सगुण-साकार और सगुण-निराकार तथा 'निर्गुण' का एक भेद होगा—निर्गुण-निराकार। अगर ईश्वरको 'साकार-निराकार' मानें तो 'साकार' का एक भेद होगा—सगुण-साकार तथा 'निराकार' के दो भेद होंगे—सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकार। गीतामें सातवें अध्यायके उन्तीसवें-तीसवें श्लोकोंमें, आठवें अध्यायके आठवें श्लोकसे सोलहवें श्लोकतक और ग्यारहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें ईश्वरके सगुण-साकार, सगुण-निराकार और निर्गुण- निराकार—इन तीनों रूपोंका वर्णन हुआ है।

प्रश्न—कुछ लोग ईश्वरको मायामय मानते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि मायासे रहित एक निर्गुण-

निराकार ब्रह्म ही है, ईश्वर तो मायासे युक्त है। ऐसा मानना कहाँतक उचित है ?

उत्तर—गीता ऐसा नहीं मानती। गीता ईश्वरको मायाका अधिपति मानती है। माया ईश्वरके वशमें रहती है। भगवान्‌ने कहा है कि मैं अपनी प्रकृतिको वशमें करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ (४। ६)। तात्पर्य है कि जो जीव मायामें पड़े हुए हैं, उनको शिक्षा देनेके लिये ईश्वर मायाको स्वीकार करके अपनी इच्छासे अवतार लेता है। जैसे कोई अँग्रेज हिन्दी नहीं जानता तो अँग्रेजी एवं हिन्दी—दोनों भाषाएँ जाननेवाला व्यक्ति उसको हिन्दीमें लिखी बात अँग्रेजीमें समझाता है; अतः वह समझानेवाला व्यक्ति अँग्रेजीके अधीन (आश्रित) नहीं हुआ; क्योंकि वह दूसरोंको समझानेके लिये अँग्रेजीको काममें लेता है। अपने लिये उसको अँग्रेजीकी कोई जरूरत नहीं है। ऐसे ही मायामें पड़े

www.swamiramsukhdasji.net

THIS EBOOK IS NOT FOR RESALE

हुए जीवोंको शिक्षा देनेके लिये ईश्वर प्रकृतिको वशमें करके अवतार लेता है, जीवोंके सामने आता है।

ईश्वर मायाका अधिपति (मालिक) है— यह गीताने स्पष्टरूपसे और बार-बार कहा है, जैसे—ईश्वर जीवोंका मालिक होते हुए ही अवतार लेता है (४। ६); ईश्वर गुणों और कर्मोंके अनुसार चारों वर्णोंकी रचना करता है (४। १३); जो मनुष्य सकामभावसे देवताओंकी उपासना करते हैं, उनको फल देनेकी व्यवस्था ईश्वर ही करता है (७। २२); महाप्रलयमें सम्पूर्ण जीव प्रकृतिमें लीन होते हैं और फिर महासर्गके आदिमें ईश्वर उनकी रचना करता है (९। ७-८); सब योनियोंमें जितने शरीर पैदा होते हैं, उनमें प्रकृति माँकी तरह है और ईश्वर पिताकी तरह है (१४। ३-४); ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें रहता है और जीवोंको उनके स्वभावके

अनुसार घुमाता है (१८।६१)। जैसे सुनार औजारोंसे गहने बनाता है तो वह औजारोंके अधीन नहीं होता; क्योंकि वह गहनोंके लिये ही औजारोंको काममें लेता है। ऐसे ही ईश्वर संसारकी रचना करनेके लिये ही प्रकृतिको स्वीकार करता है।

जो खुद ही बन्धनमें पड़ा हुआ हो, वह दूसरोंको बन्धनसे मुक्त कैसे कर सकता है? नहीं कर सकता। जीव खुद ही बन्धनमें पड़ा हुआ है; अतः वह दूसरोंको बन्धनसे मुक्त कैसे कर सकता है? परन्तु ईश्वर बन्धनसे रहित है; अतः वह बन्धनमें पड़े हुए जीवोंको (यदि वे चाहें तो) बन्धनसे, पापोंसे मुक्त कर सकता है (१८।६६)। मायाके बन्धनमें पड़े हुए जीवकी उपासना करनेसे उपासकको बन्धनसे मुक्ति नहीं मिलती पर ईश्वरकी उपासना करनेसे जीव बन्धनसे मुक्त हो जाता है। तात्पर्य है कि ईश्वर जीव नहीं हो सकता और जीव

ईश्वर नहीं हो सकता। हाँ, जीव अनन्यभक्तिके द्वारा ईश्वरसे अभिन्न हो सकता है, ईश्वरमें मिल सकता है, पर ईश्वर नहीं हो सकता।

प्रश्न—ईश्वरका नमूना क्या है ?

उत्तर—ईश्वरका नमूना जीवात्मा है; क्योंकि ईश्वर भी नित्य एवं निर्विकार है और जीवात्मा भी नित्य एवं निर्विकार है। परन्तु जीवात्मा प्रकृतिके वशमें हो जाता है और ईश्वर प्रकृतिके वशमें कभी हुआ नहीं, है नहीं और होगा भी नहीं।

सबको अपनी सत्ताका अनुभव होता है कि 'मैं हूँ'। इसमें न तो कभी सन्देह होता है कि 'मैं हूँ या नहीं हूँ', न कभी परीक्षा करते हैं और न कभी अपनी सत्ताके अभावका अनुभव होता है। शरीर पहले भी नहीं था और बादमें भी नहीं रहेगा, पर अपनी सत्ताकी तरफ ध्यान देनेसे ऐसा अनुभव नहीं

होता कि मैं नहीं था। हाँ, इस विषयमें 'पता नहीं है'—ऐसा तो कह सकते हैं, पर 'मैं नहीं था'—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि अपनी सत्ताके (अपने-आपके) अभावका अनुभव किसीको भी नहीं होता। वर्तमानमें भी शरीर प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है, मिट रहा है, अपनेसे अलग हो रहा है, पर 'मैं अभावमें जा रहा हूँ'—ऐसा अनुभव किसीको भी नहीं होता, प्रत्युत यही अनुभव होता है कि शरीर अभावमें जा रहा है। शरीरके अभावका अनुभव वही कर सकता है जो भावरूप हो। 'नहीं' को जाननेवाला 'है'—रूप ही हो सकता है। अतः सिद्ध हुआ कि शरीरके अभावको जाननेवाला स्वयं (जीवात्मा) भावरूप है, सत्-रूप है।

देखने-सुनने-समझनेमें जो कुछ संसार आता है, वह पहले नहीं था, बादमें नहीं रहेगा और

वर्तमानमें भी निरन्तर अभावमें जा रहा है। संसार जैसा कल था, वैसा आज नहीं है और आज भी एक घण्टे पहले जैसा था, वैसा अभी नहीं है। अतः संसार प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है, 'नहीं' में जा रहा है। परन्तु जिसके आधारपर यह परिवर्तनशील संसार टिका हुआ है, ऐसा कोई प्रकाशक, आधार, रचयिता, सर्वसमर्थ तत्त्व है, जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। संसारमें देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिका जो कुछ परिवर्तन होता है, वह सब उस परिवर्तनरहित तत्त्वमें ही होता है। जैसे स्वच्छ आकाशमें बादल बन जाते हैं, बादलोंकी घटा बन जाती है, घटाके वर्षोन्मुख होनेपर उसमें गर्जना होने लगती है, बिजली चमकने लगती है, जलकी बूँदें बरसने लगती हैं, कभी-कभी ओले भी पड़ने लगते हैं; परन्तु यह सब होनेपर

भी आकाश ज्यों-का-त्यों रहता है। आकाशमें कोई परिवर्तन नहीं होता। ऐसे ही ईश्वर आकाशकी तरह है। उसमें संसारका उत्पन्न और लीन होना, देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें परिवर्तन होना आदि विविध क्रियाएँ होती हैं, पर वह (ईश्वर) ज्यों-का-त्यों निर्विकार, परिवर्तनरहित रहता है।

★

www.swamiramsukhdasji.net

THIS EBOOK IS NOT FOR RESALE

२. परमात्मा सगुण हैं या निर्गुण ? Error! Bookmark not defined.

परमात्मा सगुण हैं या निर्गुण ?

शास्त्रमें आया है कि जीवकी उपाधि अविद्या है, जो मलिन सत्त्वप्रधान है और ईश्वर (सगुण) की उपाधि माया है, जो शुद्ध सत्त्वप्रधान है। इस बातको लेकर ऐसी मान्यता है कि परमात्माका सगुण रूप मायिक है, वास्तविक रूप तो निर्गुण-निराकार ही है। परन्तु वास्तविक दृष्टिसे देखें तो यह मान्यता सही नहीं है। जीवको नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप ब्रह्म माना गया है—'**अयमात्मा ब्रह्म**', '**तत्त्वमसि**' आदि। विचार करना चाहिये कि जब अविद्यामें पड़ा हुआ, मलिन-सत्त्वकी उपाधिवाला जीव भी स्वरूपसे ब्रह्म ही है, तो फिर शुद्ध-सत्त्वप्रधान ईश्वर नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप क्यों नहीं है ? वह मायिक कैसे हो गया ? ईश्वर

तो मायाका अधिपति है। सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) से किसीने कहा कि ईश्वर और जीव—ये दोनों मायारूपी धेनुके बछड़े हैं। सेठजी बोले कि मायारूपी धेनुका बछड़ा जीव है, ईश्वर नहीं। ईश्वर तो साँड़ अर्थात् मायाका अधिपति है। जैसे साँड़ गायोंका मालिक होता है, ऐसे ही ईश्वर मायाका मालिक है—

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

(गीता ४ । ६)

माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी ॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता ॥

(मानस ७ । ७८ । ३-४)

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू ॥

(मानस १ । ११७ । ४)

भागवतमें आया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(१।२।११)

'तत्त्वज्ञ पुरुष उस ज्ञानस्वरूप एवं अद्वितीय तत्त्वको ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन नामोंसे कहते हैं।' तात्पर्य है कि परमात्मतत्त्व निर्गुण-निराकार (ब्रह्म) भी है, सगुण-निराकार (परमात्मा) भी है और सगुण-साकार (भगवान्) भी है।

गीतामें निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण- साकार—तीनोंके लिये 'ब्रह्म' शब्द आया है। जैसे, निर्गुण-निराकारके लिये **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥'** (५।१९), **'अक्षरं ब्रह्म परमम्'** (८।३), **'अनादिमत्परं ब्रह्म'** (१३।१२) आदि; सगुण-निराकारके लिये **'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥'**

(३ । १५), '**ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।**' (१७ । २३) आदि और सगुण-साकारके लिये '**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि**' (५ । १०), '**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।**' (१० । १२) पद आये हैं।

जैसे किसी आदमीको कपड़ोंके सहित कहें अथवा कपड़ोंसे रहित कहें, आदमी तो वही है, ऐसे ही परमात्माको गुणोंके सहित (सगुण) कहें अथवा गुणोंसे रहित (निर्गुण) कहें, परमात्मा तो वही (एक ही) हैं। भेद हमारी दृष्टिमें है। परमात्मामें भेद नहीं है। सगुण-निर्गुणका भेद बद्ध जीवकी दृष्टिसे है। मुक्तकी दृष्टिसे तो एक परमात्मतत्त्व ही है—'**वासुदेवः सर्वम् ।**' बद्धकी दृष्टि वास्तविक नहीं होती, प्रत्युत मुक्तकी दृष्टि वास्तविक होती है। अतः कोई सगुणकी उपासना करे अथवा निर्गुणकी, उसकी मुक्तिमें कोई सन्देह नहीं है। कारण कि वह

गुणोंकी उपासना नहीं करता, प्रत्युत भगवान्‌की उपासना करता है। गुण तो बाँधनेवाले होते हैं*।

कोई परमात्माको सगुण मानता है और कोई निर्गुण मानता है तो यह उनका अपना दृष्टिकोण है। इस विषयको समझनेके लिये एक दृष्टान्त है। पाँच अन्धे थे। उन्होंने एक आदमीसे कहा कि भाई, हमें हाथी दिखाओ। हम जानना चाहते हैं कि हाथी कैसा होता है? उस आदमीने उनको एक हाथीके पास ले जाकर खड़ा कर दिया। एक अन्धेके हाथमें हाथीकी सूँड़ आयी। दूसरेके हाथमें हाथीका दाँत आया। तीसरेके हाथमें हाथीका पैर आया। चौथेके

---

* सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
(गीता १४। ५)

'हे महाबाहो! प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण अविनाशी देहीको देहमें बाँध देते हैं।'

हाथमें हाथीकी पूँछ आयी। पाँचवेंको हाथीके ऊपर बैठा दिया। उन्होंने अपने-अपने हाथ फेरकर हाथीको देख लिया कि ठीक है, यही हाथी है ! अब वे पाँचों आपसमें झगड़ा करने लगे। एकने कहा कि हाथी तो ओवरकोटकी बाँहकी तरह होता है। दूसरेने कहा कि नहीं, हाथी तो मूसलकी तरह होता है। तीसरा बोला कि तुम दोनों झूठे हो, हाथी तो खम्भेकी तरह होता है। चौथेने कहा कि बिलकुल गलत कहते हो, हाथी तो रस्सेकी तरह होता है। पाँचवाँ बोला कि हाथी तो छप्परकी तरह होता है, यह मेरा अनुभव है। इस तरह सबका वर्णन सही होते हुए भी गलत है; क्योंकि वह एक अंगका वर्णन है, सर्वांगका नहीं। सबने हाथीके एक-एक अंगको हाथी मान लिया, पर वास्तवमें सब मिलकर एक हाथी है। ऐसे ही सगुण-निर्गुण, साकार-निराकारका झगड़ा है। वास्तवमें सब

मिलकर एक ही परमात्माका वर्णन है। एक ही वस्तु अलग-अलग कोणसे देखनेपर अलग-अलग दिखायी देती है, ऐसे ही एक ही परमात्मा अलग-अलग दृष्टिकोणसे अलग-अलग दीखते हैं।

गीतामें आया है कि परमात्मा सत् भी हैं, असत् भी हैं— **'सदसच्चाहम्'** (९।१९), वे सत्-असत्से पर भी हैं—**'सदसत्तत्परं यत्'** (११।३७) और वे न सत् हैं, न असत् हैं—**'न सत्तन्नासदुच्यते'** (१३।१२)। तात्पर्य है कि परमात्माका वर्णन नहीं किया जा सकता। वे सगुण भी हैं, निर्गुण भी हैं, साकार भी हैं, निराकार भी हैं और इन सबसे विलक्षण भी हैं, जिसका अभीतक शास्त्रोंमें वर्णन नहीं आया है! उसका पूरा वर्णन हो सकता भी नहीं। प्राकृत मन, बुद्धि, वाणीके द्वारा प्रकृतिसे अतीत तत्त्वका वर्णन हो ही कैसे सकता है?

द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि जितने भी मत-मतान्तर हैं, उन सबसे परिणाममें एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है—

पहुँचे पहुँचे एक मत, अनपहुँचे मत और।
संतदास घड़ी अरठ की, ढुरे एक ही ठौर॥

अरहटकी घड़ियाँ अलग-अलग, ऊँची-नीची रहती हैं। जब वे नीचे जाकर पानीसे भरकर ऊपर आती हैं, तब अलग-अलग होनेपर भी वे ढुलती एक ही जगह हैं।

नारायण अरु नगर के, रज्जब राह अनेक।
भावे आवो किधर से, आगे अस्थल एक॥

एक ही नगरमें जानेके कई मार्ग होते हैं। कोई पूर्वसे आता है, कोई पश्चिमसे आता है, कोई उत्तरसे आता है, कोई दक्षिणसे आता है। उनसे कोई पूछे कि नगर किस दिशामें है तो पूर्वसे आनेवाला कहेगा कि नगर पश्चिममें है। पश्चिमसे आनेवाला नगरको

पूर्वमें बतायेगा। उत्तरसे आनेवाला नगरको दक्षिणमें बतायेगा। दक्षिणसे आनेवाला कहेगा कि नगर उत्तरमें है। सभी अपने-अपने अनुभवको सच्चा बतायेंगे और दूसरेके अनुभवको झूठा बतायेंगे कि तुम झूठ कहते हो, हमने तो खुद वहाँ जाकर देखा है। वास्तवमें सभी सच्चे होते हुए भी झूठे हैं! पूर्व, पश्चिम आदिका भेद तो अपने दृष्टिकोण, आग्रहके कारण है। नगर न तो पूर्वमें है, न पश्चिममें है, न उत्तरमें है और न दक्षिणमें है। वह तो अपनी जगहपर ही है। अलग-अलग दिशाओंमें बैठे होने-से ही वे नगरको अलग-अलग जगहपर बताते हैं।

हम किसी महात्माके विषयमें पहले कल्पना करते हैं कि वह ऐसा होगा, ऐसी उसकी दाढ़ी होगी, ऐसा उसका शरीर होगा आदि-आदि। परन्तु वहाँ जाकर उस महात्माको देखते हैं तो वह वैसा नहीं मिलता। ऐसे ही किसी शहरके विषयमें जैसी

धारणा करते हैं, वहाँ जाकर देखनेपर वह वैसा वहीं मिलता। जब लौकिक विषयमें भी हम जो धारणा करते हैं, वह सही नहीं निकलती, फिर जो सर्वथा असीम, अनन्त अपार, अलौकिक, गुणातीत परमात्मा हैं, उनके विषयमें धारणा सही कैसे निकलेगी ?

उपासना करनेवालोंके लिये 'भगवान्‌का स्वरूप क्या है'— इस विषयमें दो ही बातें हो सकती हैं, एक तो भगवान् पहले अपना स्वरूप दिखा दें, फिर उसके अनुसार उपासना करें और दूसरी, हम पहले भगवान्‌का कोई भी स्वरूप मान लें, फिर उपासना करें। इन दोनोंमें दूसरी बात ही ठीक बैठती है। कारण कि भगवान् पहले अपना स्वरूप दिखा दें, फिर हम साधन करें तो उस स्वरूपका ध्यान, वर्णन आदि करनेमें हमारेसे कहीं-न-कहीं गलती हो ही जायगी, जिसका हमें

दोष लगेगा। भगवान् भी कह सकते हैं कि तुमने भूल क्यों की ? इसलिये भगवान्‌ने कृपा करके यह नियम बनाया है कि साधक उनके जिस रूपका ध्यान करें, जिस नामका जप करें, उसको वे अपना ही मान लेते हैं; क्योंकि भगवान् सब कुछ हैं।

अगर हमने यह सिद्धान्त बना लिया कि परमात्मतत्त्व सगुण ही है अथवा निर्गुण ही है तो फिर उसकी प्राप्ति हो ही गयी, हमने उसको जान ही लिया, फिर साधन करनेकी क्या जरूरत रही ? अगर हम उसकी प्राप्ति नहीं मानते, अपनेको ज्ञात-ज्ञातव्य नहीं मानते और साधन करनेकी जरूरत समझते हैं तो हमने अभी उसको तत्त्वसे जाना नहीं है। वास्तवमें आजतक वेद, पुराण, सन्तवाणी आदिमें परमात्माका जितना वर्णन हो चुका है, जितना वर्णन वर्तमानमें हो रहा है और जितना वर्णन भविष्यमें होगा, वह सब-का-सब

मिलकर भी परमात्माका पूरा वर्णन हो ही नहीं सकता। परमात्माके विषयमें हम जितनी कल्पना कर सकते हैं, परमात्मा उससे भी विलक्षण हैं ? * वेद, पुराण, सन्तवाणी आदिमें परमात्माका जो वर्णन हुआ है, वह वाद-विवादके लिये नहीं है, प्रत्युत उसका उद्देश्य, उसकी सार्थकता यही है कि मनुष्य परमात्माको वैसा मानकर उनके सम्मुख हो जाय और उनकी प्राप्तिमें तत्परतासे लग जाय तथा उनकी प्राप्ति कर ले।

परमात्मा सगुण हैं, निर्गुण नहीं हैं अथवा परमात्मा निर्गुण हैं, सगुण नहीं हैं—इसमें विधि-अंश (परमात्मा सगुण हैं या परमात्मा निर्गुण हैं—ऐसा) मानना तो ठीक है, पर निषेध-अंश

* देखें—गीताप्रेससे प्रकाशित 'सहज साधना' पुस्तकमें 'वर्णनातीतका वर्णन' शीर्षक लेख।

(परमात्मा सगुण नहीं हैं या परमात्मा निर्गुण नहीं हैं—ऐसा) मानना बहुत बड़ी गलती है। कारण कि निषेध-अंश माननेसे हमने एक तो परमात्माको सीमित मान लिया, उनमें कमी मान ली और दूसरे, जिसका हमने निषेध किया, उसकी उपासना करनेवालोंके हृदयको ठेस पहुँचायी, उनको विचलित किया, जो कि एक बड़ा अपराध है। कारण कि दूसरे मतको माननेवाला साधक कोई निषिद्ध आचरण (पाप) नहीं करता, प्रत्युत जिस किसी प्रकारसे भगवान्‌में ही लगा हुआ है। अतः उसकी निन्दा करनेसे उसका तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, पर अपनी हानि हो ही जायगी अर्थात् हमारी उपासनामें बाधा लग ही जायगी। परमात्मा सगुण नहीं हैं अथवा निर्गुण नहीं हैं—इस प्रकार हम अपने उपास्यको सीमित बनायेंगे तो उसकी उपासना भी सीमित ही होगी। भगवान्‌के एक रूपको

माननेवालोंके साथ राग होगा और दूसरे रूपको माननेवालोंके साथ द्वेष होगा तो इस प्रकार राग-द्वेषके रहते हुए परमात्माकी प्राप्ति कैसे होगी ? हम अपनी समझ बता सकते हैं कि हमें तो भगवान्‌का अमुक रूप समझमें आता है, पर परमात्माका ठेका लेना कि वे ऐसे ही हैं—यह गलतीकी बात है।'

हमें तो सगुण ही प्रिय लगता है अथवा हमें तो निर्गुण ही ठीक लगता है या हमें तो द्वैत सिद्धान्त ही ठीक जँचता है अथवा हम तो अद्वैत सिद्धान्तको ही ठीक समझते हैं—ऐसा कहना तो साधकके लिये ठीक है, पर दूसरेके इष्ट, सिद्धान्त, मत आदिकी निन्दा या खण्डन करना साधकके लिये महान् बाधक है। भगवान्‌के एक रूपको ही मानकर उसका आग्रह, पक्षपात रखना 'अनन्यता' नहीं है। अनन्यताका तात्पर्य है—भगवान्‌के सिवाय संसारमें कहीं भी आसक्ति न करना।

साधकको अपने मत, सम्प्रदाय आदिका आग्रह नहीं रखना चाहिये, प्रत्युत उसका अनुसरण करना चाहिये। अपने मतका आग्रह रखनेसे उसका दूसरे मतसे द्वेष हो जायगा, जिससे वह दूसरे मतकी बातोंको निष्पक्ष होकर नहीं सुन सकेगा। सभी मत, सम्प्रदाय आदिमें अच्छे-अच्छे सन्त-महापुरुष हुए हैं। अपने मतका आग्रह रहनेसे साधक उन सन्त-महापुरुषोंकी अच्छी-अच्छी बातोंसे वञ्चित रह जायगा। अतः साधकको चाहिये कि वह प्रत्येक मत, सम्प्रदाय आदिकी बातोंको निष्पक्ष होकर सुने, उनपर गहराईसे विचार करे और जो बातें उपयोगी लगें, उनको ग्रहण करे। साधकको सारग्राही बनना चाहिये। अगर उसको अपने या दूसरेके मतमें कोई शंका पैदा हो जाय तो जिनपर उसकी श्रद्धा हो, उनसे पूछकर समाधान कर लेना चाहिये। न समझनेके कारण अपने मतमें कोई कमी या बाधा

दीखे तो उसका त्याग कर देना चाहिये। उपनिषद्में आचार्य अपने शिष्योंको उपदेश देते हैं—

'यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।'

(तैत्तिरीय० १। ११)

'जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उनका ही तुम्हें सेवन करना चाहिये, दूसरे (दोषयुक्त) कर्मोंका कभी आचरण नहीं करना चाहिये। हमारे आचरणोंमेंसे भी जो-जो अच्छे आचरण दीखें, उनका ही तुम्हें सेवन करना चाहिये, दूसरोंका कभी नहीं।'

इसका अर्थ यह नहीं है कि उन आचार्योंमें कोई कमी या दोष है। कमी हमारी समझमें है, उनमें नहीं। अतः उनकी कोई क्रिया हमारी समझमें न आये, उसमें हमारी दोषदृष्टि हो जाय तो उसका अनुसरण नहीं करना चाहिये।

साधकका वास्तविक गुरु उसका 'विवेक' ही है। अतः अपने विवेकका आदर करनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। जितना जानते हैं, उसको मान लें—यह विवेकका आदर है। यह नाशवान् है—ऐसा जानते हुए भी उसमें प्रियता करना अपने विवेकका अनादर है। जिसकी नाशवान्में प्रियता है, वह अविनाशी तत्त्वको कैसे समझेगा ? अगर वह असत्में ही उलझा रहेगा तो सत्-तत्त्वकी प्राप्ति कैसे होगी ? जिसकी भोग और संग्रहमें प्रियता है, वह परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति तो दूर रही, उसकी प्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकता—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

(गीता २।४४)

'उस पुष्पित (भोगोंका वर्णन करनेवाली) वाणीसे जिनका अन्तःकरण हर लिया गया है

अर्थात् भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती।'

साधकके लिये केवल इतना ही मान लेना आवश्यक है कि 'परमात्मतत्त्व है' अथवा 'संसार नहीं है'। परमात्मतत्त्व कैसा है—यह जाननेकी जरूरत नहीं है। कारण कि परमात्मतत्त्व विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासका, मान्यताका विषय है* परन्तु 'परमात्मा है'—इसकी दृढ़ताके लिये 'संसार नहीं है'—यह विचार करनेकी आवश्यकता है। जैसे, शरीर प्रतिक्षण बदल रहा है, अभावमें जा रहा है—यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। बचपनमें जैसा शरीर था, वैसा अब नहीं रहा,

* इस विषयको अच्छी तरह समझनेके लिये 'सहज साधना' पुस्तकमें 'जिज्ञासा और बोध' शीर्षक लेख पढ़ना चाहिये।

सर्वथा बदल गया, पर मैं (स्वयं) वही हूँ—इस प्रकार शरीरके बदलनेका ज्ञान सबको है, पर अपने बदलनेका ज्ञान किसीको भी नहीं है; क्योंकि अपना स्वरूप कभी बदलता ही नहीं। ऐसा विचार करके साधक बदलनेवाले (संसार) से विमुख हो जाय तो उसको न बदलनेवाले (परमात्मतत्त्व) का अनुभव हो जायगा।

==★==

३. भगवान्का अवतार Error! Bookmark not defined.

भगवान्‌का अवतार

जो अपनी स्थितिसे नीचे उतरता है, उसको 'अवतार' कहते हैं। जैसे, कोई शिक्षक बालकको पढ़ाता है तो वह उसकी स्थितिमें आकर पढ़ाता है अर्थात् वह स्वयं 'क, ख, ग' आदि अक्षरोंका उच्चारण करता है और उस बालकसे उनका उच्चारण करवाता है तथा उसका हाथ पकड़कर उससे उन अक्षरोंको लिखवाता है। यह बालकके सामने शिक्षकका अवतार है। गुरु भी अपने शिष्यकी स्थितिमें आकर अर्थात् शिष्य जैसे समझ सके, वैसी ही स्थितिमें आकर उसकी बुद्धिके अनुसार उसको समझाते हैं। ऐसे ही मनुष्योंको व्यवहार और परमार्थकी शिक्षा देनेके लिये भगवान् मनुष्योंकी

स्थितिमें आते हैं, अवतार लेते हैं।

भगवान् मनुष्योंकी तरह जन्म नहीं लेते। जन्म न लेनेपर भी वे जन्मकी लीला करते हैं अर्थात् मनुष्योंकी तरह माँके गर्भमें आते हैं; परन्तु मनुष्यकी तरह गर्भाधान नहीं होता। जब भगवान् श्रीकृष्ण माँ देवकीजीके गर्भमें आते हैं, तब वे पहले वसुदेवजीके मनमें आते हैं तथा नेत्रोंके द्वारा देवकीजीमें प्रवेश करते हैं और देवकीजी मनसे ही भगवान्‌को धारण करती हैं। * गीतामें भगवान् कहते

---

* ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं समाहितं शूरसुतेन देवी।
दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथाऽऽनन्दकरं मनस्तः॥
(श्रीमद्भा० १०।२।१८)

'..... यथा दीक्षाकाले गुरुः शिष्याय ध्यानमुपदिशति शिष्यश्च ध्यानोक्तां मूर्तिं हृदि निवेशयति तथा वसुदेवो देवकीदृष्टौ स्वदृष्टिं निदधौ। दृष्टिद्वारा च हरिः संक्रामन् देवकीगर्भे आविर्बभूव। एतेन रेतोरूपेणाधानं निरस्तम्॥' (अन्वितार्थप्रकाशिका)

हैं कि मैं अज (अजन्मा) रहते हुए ही जन्म लेता हूँ अर्थात् मेरा अजपना ज्यों-का-त्यों ही रहता है। मैं अव्ययात्मा (स्वरूपसे नित्य) रहते हुए ही अन्तर्धान हो जाता हूँ अर्थात् मेरे अव्ययपनेमें कुछ भी कमी नहीं आती। मैं सम्पूर्ण प्राणियोंका, सम्पूर्ण लोकोंका ईश्वर (मालिक) रहते हुए ही माता-पिताकी आज्ञाका पालन करता हूँ अर्थात् मेरे ईश्वरपनेमें, मेरे ऐश्वर्यमें कुछ भी कमी नहीं आती। मनुष्य तो अपनी प्रकृति-(स्वभाव-)के परवश होकर जन्म लेते हैं, पर मैं अपनी प्रकृतिको अपने वशमें करके स्वतन्त्रतापूर्वक स्वेच्छानुसार अवतार लेता हूँ (४। ६)।

भगवान् अपने अवतार लेनेका समय बताते हुए कहते हैं कि जब-जब धर्मका ह्रास होता है और अधर्म बढ़ जाता है, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ, प्रकट हो जाता हूँ (४। ७)। अपने अवतारका

प्रयोजन बताते हुए भगवान् कहते हैं कि भक्तजनोंकी, उनके भावोंकी रक्षा करनेके लिये, अन्याय-अत्याचार करनेवाले दुष्टोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी भलीभाँति स्थापना, पुनरुत्थान करनेके लिये मैं युग-युगमें अवतार लेता हूँ (४ । ८) । इस तरह अज, अविनाशी और ईश्वर रहते हुए अवतार लेनेवाले मुझ महेश्वरके परमभावको न जानते हुए जो लोग मेरेको मनुष्य मानकर मेरी अवहेलना, तिरस्कार करते हैं, वे मूढ़ (मूर्ख) हैं। मूढ़लोग आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिका आश्रय लेकर जो कुछ आशा करते हैं; जो कुछ शुभकर्म करते हैं, जो कुछ विद्या प्राप्त करते हैं, वह सब व्यर्थ हो जाता है अर्थात् सत्-फल देनेवाला नहीं होता (९ । ११-१२) । जो मेरे सर्वश्रेष्ठ अविनाशी परमभावको न जानते हुए मुझ अव्यक्त परमात्माको जन्मने-मरनेवाला मानते हैं,

वे मनुष्य बुद्धिहीन हैं। ऐसे मनुष्योंके सामने मैं अपने असली रूपसे प्रकट नहीं होता (७।२४—२५)।

जैसे खेलमें कोई स्वाँग बनाता है तो वह हरेकको अपना वास्तविक परिचय नहीं देता। अगर वह अपना वास्तविक परिचय दे दे तो खेल बिगड़ जायगा। ऐसे ही जब भगवान् अवतार लेते हैं, तब वे सबके सामने अपने-आपको प्रकट नहीं करते, सबको अपना वास्तविक परिचय नहीं देते—**'नाहं प्रकाशः सर्वस्य'** (७।२५)। अगर वे अपना वास्तविक परिचय दे दें तो फिर वे लीला नहीं कर सकते। जैसे खेल खेलनेवालेका स्वाँग देखकर उसका आत्मीय मित्र डर जाता है तो वह स्वाँगधारी अपने मित्रको संकेतरूपसे अपना असली परिचय देता है कि 'अरे ! तू डर मत, मैं वही हूँ'। ऐसे ही भगवान्के अवतारी शरीरोंको देखकर कोई भक्त डर

www.swamiramsukhdasji.net

THIS EBOOK IS NOT FOR RESALE

जाता है तो भगवान् उसको अपना असली परिचय देते हैं कि 'भैया ! तू डर मत, मैं तो वही हूँ।'

दो मित्र थे। एक ने बाजारमें अपनी दूकान फैला रखी थी, जिससे लोग माल देखें और खरीदें। दूसरा राजकीय सिपाहीका स्वाँग धारण करके उसके पास गया और उसको खूब धमकाने लगा कि 'अरे ! तूने यहाँ रास्तेमें दूकान क्यों लगा रखी है ? जल्दी उठा, नहीं तो अभी राजमें तेरी खबर करता हूँ।' उसकी बातोंसे वह दूकानदार मित्र बहुत डर गया और अपनी दूकान समेटने लगा। उसको भयभीत देखकर सिपाही बना हुआ मित्र बोला—'अरे ! तू डर मत, मैं तो वही तेरा मित्र हूँ।' ऐसे ही अर्जुनके सामने भगवान् विश्वरूपसे प्रकट हो गये तो अर्जुन डर गये। तब भगवान्ने अपना असली परिचय देकर अर्जुनको सान्त्वना दी।

यहाँ एक शङ्का होती है कि वर्तमानमें धर्मका

ह्रास हो रहा है और अधर्म बढ़ रहा है तथा श्रेष्ठ पुरुष दुःख पा रहे हैं, फिर भी भगवान् अवतार क्यों नहीं ले रहे हैं ? इसका समाधान यह है कि अभी भगवान्‌के अवतारका समय नहीं आया है। कारण कि शास्त्रोंमें कलियुगमें जैसा बर्ताव होना लिखा है, उससे भी ज्यादा बर्ताव गिर जाता है, तब भगवान् अवतार लेते हैं। अभी ऐसा नहीं हुआ है। त्रेतायुगमें तो राक्षसोंने ऋषि-मुनियोंको खा-खाकर हड्डियोंका ढेर कर दिया था, तब भगवान्‌ने अवतार लिया था। अभी कलियुगको देखते हुए वैसा अन्याय-अत्याचार नहीं हो रहा है। धर्मका थोड़ा ह्रास होनेपर भगवान् कारकपुरुषोंको भेजकर उसको ठीक कर देते हैं अथवा जगह-जगह सन्त-महात्मा प्रकट हो अपने आचरणों एवं वचनोंके द्वारा मनुष्योंको सन्मार्गपर लाते हैं।

एक दृष्टिसे भगवान्‌का अवतार नित्य है। इस

संसाररूपसे भगवान्का ही अवतार है। साधकोंके लिये साध्य और साधनरूपसे भगवान्का अवतार है। भक्तोंके लिये भक्तिरूपसे, ज्ञानयोगियोंके लिये ज्ञेयरूपसे और कर्मयोगियोंके लिये कर्तव्यरूपसे भगवान्का अवतार है। भूखोंके लिये अन्नरूपसे, प्यासोंके लिये जलरूपसे, नंगोंके लिये वस्त्ररूपसे और रोगियोंके लिये ओषधिरूपसे भगवान्का अवतार है। भोगियोंके लिये भोगरूपसे और लोभियोंके लिये रुपये, वस्तु आदिके रूपसे भगवान्का अवतार है। गरमीमें छायारूपसे और सरदीमें गरम कपड़ोंके रूपसे भगवान्का अवतार है। तात्पर्य है कि जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम आदिके रूपसे भगवान्का ही अवतार है; क्योंकि वास्तवमें भगवान्के सिवाय दूसरी कोई चीज है ही नहीं— **'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९); **'सदसच्चाहम्'** (९। १९)। परन्तु जो संसाररूपसे प्रकट हुए प्रभुको

भोग्य मान लेता है, अपनेको उसका मालिक मान लेता है, उसका पतन हो जाता है, वह जन्मता-मरता रहता है।

जो लोग यह मानते हैं कि भगवान् निराकार ही रहते हैं, साकार होते ही नहीं, उनकी यह धारणा बिलकुल गलत है; क्योंकि मात्र प्राणी अव्यक्त (निराकार) और व्यक्त (साकार) होते रहते हैं। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण प्राणी पहले अव्यक्त थे, बीचमें व्यक्त हो जाते हैं और फिर वे अव्यक्त हो जाते हैं (२।२८)। पृथ्वीके भी दो रूप हैं—निराकार और साकार। पृथ्वी तन्मात्रारूपसे निराकार और स्थूलरूपसे साकार रहती है। जल भी परमाणुरूपसे निराकार और भाप, बादल, ओले आदिके रूपसे साकार रहता है। वायु निःस्पन्दरूपसे निराकार और स्पन्दनरूपसे साकार रहती है। अग्नि दियासलाई, काष्ठ, पत्थर आदिमें निराकाररूपसे रहती है और

संसाररूपसे भगवान्‌का ही अवतार है। साधकोंके लिये साध्य और साधनरूपसे भगवान्‌का अवतार है। भक्तोंके लिये भक्तिरूपसे, ज्ञानयोगियोंके लिये ज्ञेयरूपसे और कर्मयोगियोंके लिये कर्तव्यरूपसे भगवान्‌का अवतार है। भूखोंके लिये अन्नरूपसे, प्यासोंके लिये जलरूपसे, नंगोंके लिये वस्त्ररूपसे और रोगियोंके लिये ओषधिरूपसे भगवान्‌का अवतार है। भोगियोंके लिये भोगरूपसे और लोभियोंके लिये रुपये, वस्तु आदिके रूपसे भगवान्‌का अवतार है। गरमीमें छायारूपसे और सरदीमें गरम कपड़ोंके रूपसे भगवान्‌का अवतार है। तात्पर्य है कि जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम आदिके रूपसे भगवान्‌का ही अवतार है; क्योंकि वास्तवमें भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई चीज है ही नहीं— **'वासुदेवः सर्वम्'** (७।१९); **'सदसच्चाहम्'** (९।१९)। परन्तु जो संसाररूपसे प्रकट हुए प्रभुको

भोग्य मान लेता है, अपनेको उसका मालिक मान लेता है, उसका पतन हो जाता है, वह जन्मता-मरता रहता है।

जो लोग यह मानते हैं कि भगवान् निराकार ही रहते हैं, साकार होते ही नहीं, उनकी यह धारणा बिलकुल गलत है; क्योंकि मात्र प्राणी अव्यक्त (निराकार) और व्यक्त (साकार) होते रहते हैं। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण प्राणी पहले अव्यक्त थे, बीचमें व्यक्त हो जाते हैं और फिर वे अव्यक्त हो जाते हैं (२।२८)। पृथ्वीके भी दो रूप हैं—निराकार और साकार। पृथ्वी तन्मात्रारूपसे निराकार और स्थूलरूपसे साकार रहती है। जल भी परमाणुरूपसे निराकार और भाप, बादल, ओले आदिके रूपसे साकार रहता है। वायु निःस्पन्दरूपसे निराकार और स्पन्दनरूपसे साकार रहती है। अग्नि दियासलाई, काष्ठ, पत्थर आदिमें निराकाररूपसे रहती है और

घर्षण आदि साधनोंसे साकार हो जाती है। इस तरह मात्र सृष्टि निराकार-साकार होती रहती है। सृष्टि प्रलय-महाप्रलयके समय निराकार और सर्ग-महासर्गके समय साकार रहती है। जब प्राणी भी निराकार-साकार हो सकते हैं, पृथ्वी, जल आदि महाभूत भी निराकार-साकार हो सकते हैं, सृष्टि भी निराकार-साकार हो सकती है तो क्या भगवान् निराकार-साकार नहीं हो सकते? उनके निराकार-साकार होनेमें क्या बाधा है? इसलिये गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त-मूर्तिना**' (९।४) यहाँ भगवान्‌ने अपनेको '**मया**' पदसे व्यक्त (साकार) और '**अव्यक्तमूर्तिना**' पदसे अव्यक्त (निराकार) बताया है। सातवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने बताया है कि जो मेरेको अव्यक्त (निराकार) ही मानते हैं, व्यक्त

(साकार) नहीं, वे बुद्धिहीन हैं; और जो मेरेको व्यक्त (साकार) ही मानते हैं, अव्यक्त (निराकार) नहीं, वे भी बुद्धिहीन हैं; क्योंकि वे दोनों ही मेरे परमभावको नहीं जानते।

प्रश्न—अवतारी भगवान्‌का शरीर कैसा होता है ?

उत्तर—हमलोगोंका जन्म कर्मजन्य होता है, पर भगवान्‌का जन्म (अवतार) कर्मजन्य नहीं होता। अतः हमलोगोंके शरीर जैसे माता-पिताके रज-वीर्यसे पैदा होते हैं, वैसे भगवान्‌का शरीर पैदा नहीं होता। वे जन्मकी लीला तो हमारी तरह ही करते हैं, पर वास्तवमें वे उत्पन्न नहीं होते, प्रत्युत प्रकट होते हैं— **'सम्भवाम्यात्ममायया'** (४। ६)। हमारी आयु तो कर्मोंके अनुसार सीमित होती है, पर भगवान्‌की आयु सीमित नहीं होती। वे अपने इच्छानुसार जितने दिन प्रकट रहना चाहें, उतने दिन

(साकार) नहीं, वे बुद्धिहीन हैं; और जो मेरेको व्यक्त (साकार) ही मानते हैं, अव्यक्त (निराकार) नहीं, वे भी बुद्धिहीन हैं; क्योंकि वे दोनों ही मेरे परमभावको नहीं जानते।

प्रश्न—अवतारी भगवान्‌का शरीर कैसा होता है ?

उत्तर—हमलोगोंका जन्म कर्मजन्य होता है, पर भगवान्‌का जन्म (अवतार) कर्मजन्य नहीं होता। अतः हमलोगोंके शरीर जैसे माता-पिताके रज-वीर्यसे पैदा होते हैं, वैसे भगवान्‌का शरीर पैदा नहीं होता। वे जन्मकी लीला तो हमारी तरह ही करते हैं, पर वास्तवमें वे उत्पन्न नहीं होते, प्रत्युत प्रकट होते हैं— **'सम्भवाम्यात्ममायया'** (४। ६)। हमारी आयु तो कर्मोंके अनुसार सीमित होती है, पर भगवान्‌की आयु सीमित नहीं होती। वे अपने इच्छानुसार जितने दिन प्रकट रहना चाहें, उतने दिन

रह सकते हैं। हम लोगोंको तो अज्ञताके कारण कर्मफलके रूपमें आयी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंका भोग करना पड़ता है, पर भगवान्‌को अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंका भोग नहीं करना पड़ता, वे सुखी-दुःखी नहीं होते।

हमलोगोंका शरीर पाञ्चभौतिक होता है, पर भगवान्‌का अवतारी शरीर पाञ्चभौतिक नहीं होता, प्रत्युत सच्चिदानन्दमय होता है। —**'सच्चित्सुखैक-वपुषः पुरुषोत्तमस्य'**; ***'चिदानंदमय देह तुम्हारी'*** (मानस २।१२७।३)। 'सत्'से भगवान्‌का अवतारी शरीर बनता है, 'चित्' से उनके शरीरमें प्रकाश होता है और 'आनन्द' से उनके शरीरमें आकर्षण होता है। वह शरीर भगवान्‌को माननेवाले, न माननेवाले आदि सभीको स्वतः प्रिय लगता है। अतः भगवान्‌का शरीर हमलोगोंके शरीरकी तरह हड्डी, माँस, रुधिर आदिका नहीं

www.swamiramsukhdasji.net

THIS EBOOK IS NOT FOR RESALE

होता। परन्तु अवतारकी लीलाके समय वे अपने चिन्मय शरीरको पाञ्चभौतिक शरीरकी तरह दिखा देते हैं। भक्तोंके भावोंके अनुसार भगवान्‌को भूख भी लगती है, प्यास भी लगती है, नींद भी आती है, सरदी-गरमी भी लगती है और भय भी लगता है !

यद्यपि देवताओंके शरीर भी दिव्य कहे जाते हैं, तथापि वे भी पाञ्चभौतिक हैं। स्वर्गके देवताओंका शरीर तेजस्तत्त्वप्रधान, वायुदेवताका शरीर वायुतत्त्वप्रधान, वरुणदेवताका शरीर जलतत्त्वप्रधान और मनुष्योंका शरीर पृथ्वीतत्त्वप्रधान होता है; परन्तु भगवान्‌का शरीर इन तत्त्वोंसे रहित, चिन्मय होता है। देवताओंके शरीर दिव्य होते हुए भी नित्य नहीं हैं, मरनेवाले हैं। जो आजान देवता हैं, वे महाप्रलयके समय भगवान्‌में लीन हो जाते हैं; और जो पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गादि लोकोंमें जाकर

देवता बनते हैं, वे पुण्यकर्म क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकमें आकर जन्म लेते हैं और मरते हैं। [भगवान्‌को पाप-पुण्य नहीं लगते। उनको किसीका शाप भी नहीं लगता, पर शापकी मर्यादा रखनेके लिये वे शापको स्वीकार कर लेते हैं।]

प्रश्न—योगीकी और भगवान्‌की सर्वज्ञतामें क्या अन्तर है ? क्योंकि योगी भी सब कुछ जान लेता है और भगवान् भी।

उत्तर—जो साधन करके शक्ति प्राप्त करते हैं, उनकी सामर्थ्य, सर्वज्ञता सीमित होती है। वे किसी दूरके विषयको, किसीके मनकी बातको जानना चाहें तो जान सकते हैं, पर उसको जाननेके लिये उनको अपनी मनोवृत्ति लगानी पड़ती है। भगवान्‌की सामर्थ्य, सर्वज्ञता असीम है। भगवान्‌को किसी भूत-वर्तमान-भविष्यके विषयको जाननेके लिये अपनी मनोवृत्ति नहीं लगानी पड़ती, प्रत्युत वे

उसको स्वतः-स्वाभाविक जानते हैं। उनकी सर्वज्ञता स्वतःस्वाभाविक है।

प्रश्न—योगी भी चाहे जितने दिनतक अपने शरीरको रख सकता है और भगवान् भी; अतः दोनोंमें अन्तर क्या हुआ ?

उत्तर—योगी प्राणायामके द्वारा अपने शरीरको बहुत दिनोंतक रख सकता है, पर ऐसा करनेमें प्राणायामकी पराधीनता रहती है। भगवान्‌को मनुष्यरूपसे प्रकट रहनेके लिये किसीके भी पराधीन नहीं होना पड़ता। वे सदा-सर्वदा स्वाधीन रहते हैं। तात्पर्य है कि योगीकी शक्ति साधनजन्य होती है; अतः वह सीमित होती है और भगवान्‌की शक्ति स्वतःसिद्ध होती है; अतः वह असीम होती है।

प्रश्न—योगीको भी भगवान् कहते हैं और अवतारी ईश्वरको भी भगवान् कहते हैं; अतः दोनोंमें क्या अन्तर है ?

प्रश्न—वेदव्यासजी आदि कारकपुरुषोंको भी भगवान् कहते हैं और अवतारी ईश्वरको भी भगवान् कहते हैं; अतः दोनोंमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—वेदव्यासजी आदि कारकपुरुष भगवान्‌के कलावतार, अंशावतार कहलाते हैं। वे भगवान्‌की इच्छासे ही यहाँ अवतार लेते हैं। अवतार लेकर वे धर्मकी स्थापना और साधु पुरुषोंकी रक्षा तो करते हैं, पर दुष्टोंका विनाश नहीं करते। कारण कि दुष्टोंके विनाशका काम भगवान्‌का ही है, कारकपुरुषोंका नहीं।

आजकल अपनेमें कुछ विशेषता देखकर लोग अपनेको भगवान् सिद्ध करने लगते हैं और नामके साथ 'भगवान्' शब्द लगाने लगते हैं—यह कोरा पाखण्ड ही है। अपनेको भगवान् कहकर वे अपनेको पुजवाना चाहते हैं, अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये लोगोंको ठगना चाहते हैं। मनुष्योंको

ऐसे नकली भगवानोंके चक्करमें पड़कर अपना पतन नहीं करना चाहिये, प्रत्युत ऐसे भगवानोंसे सदा दूर ही रहना चाहिये।

किसी सम्प्रदायको माननेवाले मनुष्य अपनी श्रद्धा-भक्तिसे सम्प्रदायके मूल पुरुष-(आचार्य-) को भी अवतारी भगवान् कह देते हैं; पर वास्तवमें वे भगवान् नहीं होते। वे आचार्य मनुष्योंको भगवान्‌की तरफ लगाते हैं, उन्मार्गसे बचाकर सन्मार्गमें लगाते हैं, इसलिये वे उस सम्प्रदायके लिये भगवान्‌से भी अधिक पूजनीय हो सकते हैं *, पर भगवान् नहीं हो सकते।

★

* मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥
(७। १२०। ८-९)

जो क्रोधमें आकर अथवा किसी बातसे दुःखी होकर आत्महत्या कर लेता है, वह दुर्गतिमें चला जाता है अर्थात् भूत-प्रेत-पिशाच बन जाता है। आत्महत्या करनेवाला महापापी होता है। कारण कि यह मनुष्य-शरीर भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है; अतः भगवत्प्राप्ति न करके अपने ही हाथसे मनुष्य-शरीरको खो देना बड़ा भारी पाप है, अपराध है, दुराचार है। दुराचारीकी सद्गति कैसे होगी? अतः मनुष्यको कभी भी आत्महत्या करनेका विचार मनमें नहीं आने देना चाहिये।

(दुर्गतिसे बचो नामक पुस्तकसे)

www.swamiramsukhdasji.net

THIS EBOOK IS NOT FOR RESALE